UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180975

UNIVERSAL
LIBRARY

H 81.6/N38D0 H.2825
1 शोध.
डी गीत, 1958

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H-81.6/N38Do Accession No. H.2825

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

12-1-63

दो गीत

(मृत्यु-गीत, जीवन-गीत)

रचयिता

'नी र ज'

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

कोठी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद ६.

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

लेखक की अन्य रचनाएँ

दर्द दिया है (पुरस्कृत)	४.५०
प्राण-गीत	३.००
बादर बरस गयो	३.००
आसावरी (सचित्र)	३.००
नदी किनारे ··	२.००
···लहर पुकारे	२.००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	एक रुपया आठ आना
आवरण	:	ना० मा० इंगोले
द्वितीय संस्करण	:	जुलाई, १९५८
मुद्रक	:	मूवीज़ प्रेस, दिल्ली-६

स्वयं को

निवेदन

इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपने पाठकों और आलोचकों से मुझे केवल इतना ही निवेदन करना है कि यदि वे मेरी इन दोनों कविताओं का मूल्याकन मेरी आज की रचनाओं के संदर्भ में न करें तो अच्छा होगा क्योंकि मेरी अबकी रचनाओं और इन दोनों कविताओं के बीच समय का एक बहुत लम्बा व्यवधान है। 'मृत्यु-गीत' १९४९-५० की रचना है, जब मैंने अपना स्वतन्त्र-पथ निर्माण तो कर लिया था किन्तु मेरे पाँवों से लगी कुछ अन्य राजमार्गों की धूल पूरी तरह नहीं छुट पाई थी और 'जीवन-गीत' १९४५ के आस-पास की रचना है जब कि मै कविता लिखना सीख रहा था। वास्तव में 'जीवन-गीत' स्वतन्त्र रचना नहीं है, बल्कि उस समय के लिखे हुए 'शान्ति-लोक' नामक मेरे खण्ड-काव्य का एक अंश है जिसका सम्बन्ध 'प्रकृति-पुरुष' नामक सर्ग से है। इस खण्ड-काव्य की रचना मैंने 'कामायनी' की शीतल किन्तु ज्ञान-गम्भीर छाया में की थी इसलिए अनिवार्य रूप से इसकी भाषा-शैली पर उसका प्रभाव पड़ा है। इसे प्रकाशित करने की मेरी इच्छा नहीं थी किन्तु मित्रों का आग्रह जब आज्ञा तक पहुँच गया तो विवश होकर मुझे इसे छपाना पड़ा। 'शान्तिलोक' लिखकर भी इसलिए नहीं छपाया कि उसमें से बहुत कुछ छपने योग्य नहीं था—जितना छपने योग्य मुझे जँचा उतना यहाँ प्रस्तुत कर दिया है। इस पुस्तक को इसकी खामियों के बाद भी जिस स्नेह और प्यार से पाठकों ने अपनाया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और द्वितीय संस्करण के लिए पूरे तीन वर्ष जो उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी है, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

धर्म समाज कॉलिज
अलीगढ़

—नीरज

सौ सौ बार चिताओं ने
मरघट पर मेरी सेज बिछाई,
सौ सौ बार धूल ने मेरे
गीतों की आवाज़ चुराई,
लाखों बार कफ़न ने रोकर
मेरा तन शृङ्गार किया पर–
एक बार भी अब तक मेरी
जग में मौत नहीं हो पाई,
मैं जीवन हूँ, मैं यौवन हूँ, जन्म मरण है मेरी क्रीड़ा,
इधर विरह-सा बिछुड़ रहा हूँ उधर मिलन-सा आ मिलता हूँ।
क्या है यह तूफ़ान अरे मैं खुद आँधी बनकर चलता हूँ!

मृत्यु-गीत

अब शीघ्र करो तैयारी मेरे जाने की
रथ जाने को बाहर तैयार खड़ा मेरा,
है मंज़िल मेरी दूर बहुत, पथ दुर्गम है,
हर एक दिशा पर डाला है तम ने डेरा।

मृत्यु-गीत

अब शीघ्र करो तैयारी मेरे जाने की
रथ जाने को बाहर तैयार खड़ा मेरा,
है मंज़िल मेरी दूर बहुत, पथ दुर्गम है,
हर एक दिशा पर डाला है तम ने डेरा।

कल तक तो मैंने गीत मिलन के गाये थे
पर आज विदा का अंतिम गीत सुनाऊँगा,
कल तक आँसू से मोल दिया जग-जीवन का
अब आज लहू से बाकी कर्ज़ चुकाऊँगा।

कल खेला था अलियों-कलियों की गलियों में
अब आज मुझे मरघट में रास रचाने दो,
कल मुस्काया था बैठ किसी की पलकों पर
अब आज चिता पर बैठ मुझे मुस्काने दो।

कल सुनकर मेरे गीत हँसे-मुस्काये तुम
अब आज अश्रु दो मेरे साथ बहा लेना,
कल तक फूलों की मालायें पहनाई थीं
गलहार अँगारों का पर अब पहना देना।

बेकार बहाना, टालमटोल व्यर्थ सारी
आ गया समय जाने का—जाना ही होगा,
तुम चाहे कितना चीखो-चिल्लाओ, रोओ,
पर मुझको डेरा आज उठाना ही होगा।

अब चाहूँ भी तो मैं रुक सकता नहीं दोस्त !
कारण—खुद मंज़िल ही ढिग बढ़ती आती है,
मैं जितना पैर टिकाने की कोशिश करता
उतनी ही मिट्टी और धसकती जाती है।

वह देखो लहरों में तूफ़ानी हलचल है
उस पार खड़ा होकर कोई मुस्काता है,
जिसके नयनों के मौन इशारों पर मेरा
साहिल खुद लहरों के सँग बहता जाता है।

फिर तुम्हीं कहो किस ओर बचूँ, भागूँ जाऊँ
नामुमकिन है अम्बर के ऊपर चढ़ जाना
है सम्भव नहीं धरा के अन्दर धँस जाना
नामुमकिन है धर पंख पवन में उड़ जाना।

पर यदि यह भी सब संभव हो तो क्या बोलो !
अपने से बचकर कौन कहाँ जा सकता है ?
साँसों पर जो पड़ चुका काल का नागपाश
उससे छुटकारा कौन कहाँ पा सकता है ?

देखो लिपटी है राख चिता की पैरों में
अंगार बना जलता है रोम रोम मेरा
है चिता सदृश धू धू करती सारी देही
है कफ़न बँधा सर पर, सुधि को तम ने घेरा।

हूँ इसीलिए कहता मत चीखो-चिल्लाओ
मत आँसू से तुम मेरा पथ रोको साथी !
मत फैलाओ आलिंगन की प्यासी बाँहें
मत मुझे सुनाओ प्रेमभरी अपनी पाती !

अब आँसू की आवाज़ न मैं सुन सकता हूँ,
अब देख न सकता मैं गोरी तसवीरों को,
अब चूम न सकता मैं अधरों की मुस्कानें,
अब बाँध न सकता बाँहों की ज़ंजीरों को।

मेरे अधरों में घुला हलाहल है काला
नयनों में नंगी मौत खड़ी मुस्काती है,
है रामनाम ही सत्य, असत्य और सब कुछ
बस एक यही ध्वनि कानों से टकराती है।

हैं अट्टहास करते घेरे कंकाल मुझे
हैं भूत-प्रेत-से नाच रहे टूटे सपने
हैं विकल चिताएँ मुझे चूमने को प्रतिपल
दाहक-से सब लगते मुझको मेरे अपने।

पथराती जाती है नीली पीली पुतली,
मन में भीषण तूफ़ान घुमड़ता आता है,
सारे शरीर में हलचल है भूचालों की,
पलकों पर तम का परदा छाता जाता है।

फिर भी आहों से और सिसकियों से छिन-छिन
तुम बाँध रहे हो मेरे पैरों की गति को,
फिर भी लाकर तुम बाढ़ आँसुओं की अनंत
हो डुबो रहे मुझको, मेरे पथ अथ-इति को।

उस अजित मृत्यु के फन्दे के आगे सचमुच
हैं बहुत क्षीण कमज़ोर तुम्हारी ये बाँहें,
उसके घन-गर्जन तांडव-नर्तन में सचमुच
हैं नहीं एक क्षण टिक सकते आँसू-आहें।

जीवन में तो आँसू का मूल्य बहुत कुछ है
वह साथी है एकाकी सूने जीवन का,
वह दीपक है तम भरी निशा की राहों का,
वह मोती है हत-भाग्य, थकित, निर्धन-मन का।

पर काल काल के आगे सोना मिट्टी है
हीरे-मोती की कीमत कब उसने जानी ?
पहचानी कब उसने पारस की स्वर्ण-शक्ति
बस मिट्टी की सत्ता केवल उसने मानी।

उसने कब यह सोचा कि एक कलिका के सँग
कितने तुतले अरमान बँधे हैं मधुवन के ?
कब उसे ज्ञात यह हुआ कि एक साँस के सँग
कितने सपने जीते-मरते हैं जीवन के ?

कब किसी नीड़ के तिनकों से उसने पूछा
किस जगह तुम्हारे दिल पर बिजली टूटी है ?
कब किसी विकल पंछी से उसने प्रश्न किया
किस जगह तुम्हारी प्राण-पपिहरी छूटी है ?

पतझर की सूनी डाली बसती हुई देख
कब उसने कहा कि अक्षय हो तेरा सुहाग.
उजड़ी सिन्दूरी सेज देख निशि-बाला की
कब उसने विहँस उड़ाया सिन्दूरी पराग।

है उसे पता क्या एक सिसकते आँसू में
कितनी क्वाँरी साधों का लोहू रोता है,
है उसको क्या मालूम कि बुझते दीपक में
सौ सौ गृह-कुटियों का उजियारा सोता है।

उसको तो बस मालूम यही है एक बात
हर खिला फूल खिलने से पहले झर जाये,
चलनेवाला जल्दी से मंजिल पर पहुँचे
रुकनेवाले के पास स्वयं मंजिल आये।

है और किसी से मोह न उसको कभी हुआ,
परिवर्तन—केवल परिवर्तन उसका साथी
हैं नाश-सृजन उसके शाश्वत गतिमय दो पग
मृत्तिका—मृत्तिका ही केवल उसकी थाती।

हम सत्य समझते हैं उनको जो नित्य नये
खिलते मधुवन में रँग-बिरंगे शूल-फूल,
पर अट्टहास कर पतझर कहता है हमसे
वह देखो मरघट में किसकी उड़ रही धूल?

वह लाल किला जो सदियों से गर्वोन्नत-सा
अब तक गाता है शाहजहाँ का विजयगान,
उसमे ही पड़ी दरारें पर यह कहती हैं
'देखो इनमे सोये हैं कितने सूनसान।'

मुमताजमहल की यादगार वह ताजमहल
पूरनमासी को अमरावती लजाता है
आ अमानिशा को उससे ही पर चाँद सदा
चुपके चुपके धीरे-से यह कह जाता है—

'अबकी दोबारा जब पूनो को आऊँगा
लाऊँगा एक किरन ऐसी किरनोंवालो,
जो पहले तुझको सोने सा चमकायेगी,
फिर ईंट ईंट वह तेरी कर देगी काली।'

वह नभचुम्बी नगपति उत्तर में खड़ा हुआ
जो सदियों से मुस्काता है झलमल झलमल
पदतल वासी सागर उससे कहता मेरी
'हर लहर डुबाने को तुझको व्याकुल प्रतिपल।'

अति महाबली वह भीम, सुना जाता जिसमें
था साठ हज़ार हाथियों का बल मूर्तिमान,
वह लकड़ी एक न निज छाती से हटा सका
जब हुआ चिता पर उसके बल का इम्तहान।

चिर चिर प्रबुद्ध वे बुद्ध कि जिनकी वाणी का
विस्तार हुआ सातों समुद्र के आर पार,
उनको मुट्ठीभर धूल दबाकर बैठ गयी
जब किया चिता की लपटों ने उन पर प्रहार।

चाणक्य नीति से जिसने अपनी चुटकी में
कुलहीन कर दिया नन्द-वंश का राजपाट,
कौटिल्य-शास्त्र के फटे पृष्ठ लेकिन उसकी
अब देखा करते रोज़ चिता के निकट बाट।

कवि-कुल-गुरु तुलसीदास कि जिनकी यश-प्रशस्ति
अब तक गाते हैं रामायण के पृष्ठ-पृष्ठ,
उपहास अभी तक उनका करता है जग में
उस असी तीर, संवत सोलह सौ असी धृष्ठ।

वह शेक्सपियर जिसके नाटक के पात्र पात्र
हैं अब तक जीवित चलते फिरते धरती पर
इस्ट्रेट-फोर्ड में किन्तु उसी कवि की समाधि
कह रही कि कविता अमर, कितु कवि है नश्वर।

अर्जुन, जिसके गांडीव धनुष की टंकारें
हैं अब तक गुंजित इन्द्रप्रस्थ के घर घर में,
नित उसका हाहाकार सुनायी देता है
सुनसान किसी मरघट के भीषण हरहर में।

श्रीकृष्ण कर्मयोगी, जिनके गीतामृत को
पी अमर हो गया भारत का, रण-उपाख्यान,
वे पलक मूँदते केवल एक निमिष भर में
बन गये वधिक के एक क्षुद्र शर के निशान।

श्री राम कि जिनके मंत्रपूत बाणों को छू
क्षण में सोने की लंका जलकर हुई छार,
फेंकती व्यंग-सा उन पर अब तक बहती है
साकेत-तीर सरयू की चंचल धवल धार।

कल जिस गुलाब की डाली पर बैठी बुलबुल
गाती थी गीत जवानी का पंचम स्वर में,
हूँ देख रहा अब उसकी आँखों में आँसू
दब गया गीत उसका पतझर के हरहर में।

जिस पाटल की पालकों की छाया के नीचे
थी लगी हाट मदिरा की, मधुपों का मेला,
हैं आज पंखुरियाँ बिखरी उसकी धरती पर
है और धरा छाती पर मिट्टी का ढेला।

कल देख रहा था चाँदी बिखरी अम्बर में
जगमगा रही थी गली गली हर तारों की,
था पिघल रहा सोना धरती के कण-कण पर
हर दिशा बनी थी दुलहिन राग-कुमारों की।

आँधी-सा काला धुँआ आज छाया नभ में
हर दिशा गरजकर चीख़ चीख़ चिल्लाती है,
धू धू कर है जल रही चिता-सी धरती सब
आवाज़ न अपनी कानों तक जा पाती है।

कुंकुम से माँग सजायी जिसकी दिनकर ने
संध्या ने लज्जा का अवगुण्ठन पहनाया,
रजनी ने सेज सजायी जिसकी तारों से
गृह में जिसके चन्दा बन दीपक मुस्काया,

हूँ देख रहा उसका सूना सीमन्त पड़ा
हाथों की वह चूड़ियाँ तोड़ती पत्थर से
माथे की बिन्दा छुड़ा रही रोते रोते
है कोस रही कल को ऊँचे ऊँचे स्वर से।

वह लाल चुनरिया राग भरी, अनुराग भरी
है टुकड़े टुकड़े होकर इधर-उधर बिखरी,
वह सेज सुहागरातवाली मदगन्ध भरी
है नंगी पड़ी कराह रही अवसाद भरी।

कल हँसकर जिसके सर बाँधा था मौर-मुकुट
तन धोया था जिसका शुभ स्वर्ण कलश जल से,
उसके ही सर बँध रहा कफ़न का ताज आज
हैं जला रहे उसका शरीर ज्वालानल से।

पाँचों तत्त्वों पर चिह्न काल के अंकित जब
धो सके न जिनको बरस बरस जल के बादल,
जब सिमिट गई सब सृष्टि एक रज के कण में,
जब एक बूँद में डूबी सागर की हलचल।

आघात काल का सहकर ही क्षणभर में जब
पड़ गयीं दरारें बड़ी-बड़ी पाषाणों में,
पतझर का खाकर केवल एक झकोरा बस
जब बदल गये मधुवन अनेक वीरानों में,

फिर अरे तुम्हारे आँसू की हस्ती है क्या
आँसू से कैसे चाल काल की रोकोगे?
इन करुण कराहों और सिसकियों के बल पर
किस तरह मरण के संदेसे को टोकोगे?

आँसू भरकर तुम भरते हो सिसकी गहरी
तुम ही न अरे, पर अभी बहुत-से रोयेंगे,
तुम ही न अकेले हो अधीर इस भाँति आज
हैं बहुत अभी जो रो रो धीरज खोयेंगे।

'नर-नाहर' कह कह कर छाती पीटेगी माँ
खा खा पछाड़ धरती आकाश हिलायेगी,
चूड़ियाँ तोड़, सिंदूर पोंछ, सिर धुन धुन कर
विच्छिन्न लता सी प्राण-प्रिया बिलखायेगी।

भाई रोयेगा सीधी मेरी भुजा कटी,
भगिनी कर में राखी लेकर अकुलायेगी,
तुम रोओगे, वे रोयेंगे, जग रोयेगा
पर मेरी अरथी उठी नहीं रुक पायेगी।

जब लाश चिता पर मेरी रक्खी जायेगी
अनजानी आँखें भी दो अश्रु गिरायेंगी,
पर दो दिन के ही बाद यहाँ इस दुनियाँ में
रे याद किसी को मेरी कभी न आयेगी।

तुम भी पहले की तरह हँसोगे-गाओगे
पहले की तरह देखने जाओगे मेले,
कब याद तुम्हें आयेगा लेकिन दोस्त ! भला
थे एक दिवस हम तुम इस मेले में खेले।

सावन में रोज़ घटाएँ घिर घिर आयेंगी
बूँदों की खड़ी झड़ी झूमेगी आँगन में,
पर किसे दिखाई देंगे तब मेरे आँसू
सिसकी भरते काले बादल के दामन में।

काली रातों में कूकेगी कोयलिया जब,
गीली रातों में पपिहा पियू पुकारेगा
तब किसकी आँखों का अंजन गीला होकर
मेरी सूनी सूनी सी सेज निहारेगा।

तुम कहते हो मेरे यूँ असमय जाने से
सारा संसार तुम्हें सूना हो जायेगा
जीवन की हँसी-खुशी मिट जायेगी सारी
यह पंथ कठिन दूभर दूना हो जायेगा।

लेकिन ये कहने-सुनने की बातें हैं सब
संसार किसी के लिए नहीं मिटता भाई !
होती दुनियाँ सूनी न किसी के बिना कभी
है समय किसी के लिए नहीं रुकता भाई !

चाहे कितना हो क्यों न बड़ा हो घाव किन्तु
धीरे धीरे वह भी खुद ही भर जाता है
है ऐसा मरहम एक समय के पास अरे,
जो हर बीमारी का इलाज कर जाता है।

फिर और दूसरा भी है एक नियम ऐसी
कोई भी जगह न रिक्त यहाँ रह पाती है,
यह मधुशाला ऐसी यदि मधु न रहे बाक़ी
तो विष से ही हर प्याली भर दी जाती है।

जिस जगह आज बैठा मैं बात कर रहा हूँ
उस जगह शीघ्र ही कोई आनेवाला है
हूँ जाने को तैयार खड़ा मैं जहाँ आज
उस पथ से कोई पंथी जानेवाला है।

मैं जाता हूँ इसलिए कि जल्दी लौट सकूँ
दोनों ही ओर प्रतीक्षा मेरी होती है,
जीवन में ऐसा आकर्षण है एक अमर,
मरकर भी जीने की न लालसा खोती है।

है एक किरण ऐसी सूरज की आँखों में
बुझकर भी जो हर भोर जगाया करती है,
है एक बूँद ऐसी बादल के आँचल में
सारी दुनियाँ को जो नहलाया करती है।

गायक के अधरों पर है ऐसा एक गीत
चुप होकर भी जो युग युग गाया जाता है,
मुरझाते उपवन में है ऐसा एक फूल
जिसके तन को पतझार नहीं छू पाता है।

साँसों के घर में एक साँस ऐसी रहती
मरघट का सूना भी न जिसे भर सकता है,
मिट्टी की पुतली में है ऐसा एक स्वप्न
जिसके कारण इन्सान नहीं मर सकता है।

तुम कहते मुझे न भूलोगे तुम जीवन भर
पर कल ही तुम पहचान न मुझको पाओगे,
य वस्त्र उतार नये कल जब पहनूँगा मैं
तब मुझे अजनबी कहकर तुम मुस्काओगे।

मेरे सिरहाने जलता है जो एक दीप
कल हँसकर मैंने था उससे यह प्रश्न किया,
'क्या बतला सकते हो तुम ओ मेरे साथी !
कब कब मेरी आँखों ने तुमको स्नेह दिया ?'

वह नीची नज़रें कर सकुचाकर यों बोला
मैंने देखी हैं बुझी सुबह औ' जली शाम,
शायद तुमको तो पहली बार निहारा है,
इसलिए नहीं मालूम तुम्हारा नाम-धाम।

ऐसे ही मैंने पूछा पथ के पत्थर से
जिस पथ मैं बरसों से चलने का अभ्यासी,
वह बोला तुमसे कितने आये चले गये
क्या मुझे पता तुम कौन देश के हो वासी ?

जब एक लहर से कहा कि क्षण भर रुक जाओ
सुन लो मेरे जीवन की करुण-कहानी तुम,
वह तुनुक गयी, बोली फुरसत है मुझे कहाँ
जो देखूँ मैं गुमसुमी निगाहें यह पुरनम।

बस यही सत्य है, यही सत्य है सिर्फ दोस्त !
हम सभी लगे हैं अपने अपने परिचय में,
बस उसको ही हम कहने लगते हैं अपना
जो भी माध्यम बन जाता इस छल-अभिनय में।

अवकाश कहाँ है हमें कि हम देखें जग को ?
देखते देखते ख़ुद को आँखें थक जातीं,
हम कैसे कहें सुनें औरों की कथा कि जब,
अपनी ही बात न अपनी साँसें कह पातीं ।

तुम मेरे लिए विकल हो केवल इसीलिए,
तुमने मुझमें कुछ देखा है ऐसा अपना,
अन्यत्र कहीं जो देख न पाये तुम जग में,
जो और जगह बस रहा एक मिथ्या सपना ।

पर कल ही आकर कोई तुम्हें दिखायेगा,
वह जो तुमने देखी मुझमें सुन्दर झाँकी,
तब सच ही मुझे भूल जाओगे तुम ऐसे,
जैसे हो कहीं न कोई मेरी सुधि बाक़ी ।

पर आज मुझे तुम घेर-घार कर यों बैठे,
ज्यों छूने दोगे तुम न काल को तन मेरा,
तुम नहीं निकलने का पथ दोगे साँसों को,
तुम नहीं बिखरने दोगे यह जीवन घेरा ।

पर यह तो सोचो जिसे पकड़कर बैठे तुम,
वह मिट्टी है, मिट्टी की केवल जड़ काया,
पर इस जड़ के अन्दर जो चेतन बोल रहा,
क्या छू भी सकते हो तुम सब उसकी छाया ?

वह इस मिट्टी के अन्दर बन्द मगर फिर भी,
तुम क्या, उसको तो काल नहीं पा सकता है,
वह जहाँ जागकर भोर कर चुका है अपना,
उस जगह नहीं कोई सूरज जा सकता है।

पड़ जायेगा यह चन्दा काला वहाँ, जहाँ
उसके जीवन की रात थकी सी सोती है,
ले सकता थाह नहीं उसकी काई सागर,
जिस सजल सीप का वह अनबींधा मोती है।

जितनी गति उसके पाँवों में बन्दी अनन्त,
उतना न तेज़ चल सकता है कोई समीर,
जितनी गहरी उसके आँसू की एक बूँद,
उतना गहरा संसृति का कोई नहीं नीर।

उसकी ऊँचाई के सम्मुख हिमगिरि नगण्य,
उसकी नीचाई के सम्मुख नीचा पताल,
उसकी असीमता के सम्मुख आकाश क्षुद्र,
उसकी विराटता के सम्मुख अति क्षुद्र काल।

सौन्दर्य सकल यह उसका ही प्रतिबिंब रूप,
है स्वर्ग उसी का सुन्दरतम् कल्पना नीड़,
है नर्क उसी की ग्लानि-घृणा का गेह-ग्राम,
जग की हलचल उसके ही मन की भाव-भीड़।

ये सूर्य, चन्द्र, ऊषा, पूषा, नक्षत्र पुंज,
उसकी ही कांति ज्योति से ज्योतित भासमान,
यह निशा उसी के नयनों की काली पुतली,
मृदु हास अधर का मधुर ज्योतिवाही विहान।

है आँख उसी की बरसा करती बादल से,
है उसकी ही मुसकान थिरकती फूलों पर,
संगीत उसी का गूँज रहा है कोयल में,
है बिंधे उसी के स्वप्न नुकीले शूलों पर।

नभ भाल, दिशाएँ देह, पाँव पाताल अतल,
रवि-शशि लोचन, निश्वास-श्वास उन्चास पवन,
मुख काल, बाहु पर्वत विशाल, नख नभ-नछत्र,
नयनोन्मीलन-मीलन उसका ही प्रलय सृजन।

है ग्रीष्म उसी की अग्नि उसास विषादमयी,
है हास-विलास उसी का यह मादक वसंत,
उसके ही स्वेद विन्दु की धार सजल पावस,
उसका ही उर उच्छ्वास पीत पतझर अनंत।

वह चिर विराट् फिर भी इस-मिट्टी के अन्दर,
बन्दी होकर अपनी असीमता को समेट,
इस सृष्टि-प्रसारण के हित करता अनमाँगे,
मिट्टी को अपने अश्रु हास अनमोल भेंट।

क्रीड़ा करने को नित्य नयी वह भाँति भाँति,
बुनता है सपनों के सुन्दर रेशमी जाल,
कस्तूरी-मृग-सा फिर उसमें खुद बँध जाता,
अनुभव करने को संसृति की सीमा विशाल।

वह अणु में बन्दी होकर भी है मुक्त सदा,
वह जल में रहकर भी जल से है बहुत दूर
जलकर भी ज्वाला में न राख बनता है वह,
पाषाणों से दबकर भी होता नहीं चूर।

वह अजर अमर चिर जीवित अपनी इच्छा से,
अपनी इच्छा से ही तजता वह तन अपना
वह ऐसा एक सत्य जो अपनी इच्छा से,
बन सकता है सुन्दर से सुन्दरतम सपना।

जो आज जा रहा मैं असमय ही यात्रा पर,
वह सचमुच मेरी चाह हुई है जाने की
जो ठहर नहीं पाती हैं अब मेरी साँसें,
है मेरी ही वह चाह नहीं रुक पाने की।

कारण—चलती-फिरती ही देह न दुनियाँ है,
साँसों के चलने का ही नाम न जीवन है,
जीवन है वहाँ जहाँ सपनों की छाया में,
आशा इच्छा-घुंघुरू पर करती नर्तन है।

चलने को तो साँसें सालों तक चलती हैं,
यात्रा-क्रम भी प्रतिपल ही बढ़ता जाता है,
पर मैंने तो देखा है सौ सौ सालों में
मुश्किल से कोई एक दिवस जी पाता है।

हैं पढ़े न मैंने मज़हब के पोथे मोटे,
संचित न कर सका किसी वाद का तनिक ज्ञान,
मन्दिर-मसजिद की ओर न मेरी दृष्टि गयी,
काबा-काशी का मुझे न आया कभी ध्यान।

संध्या-नमाज़ का राज़ न अब तक जान सका,
इसलिए वक्त उसमें न किया बर्बाद कभी,
अपने जीवन की सूनी घड़ियों को मैंने,
है किया न तर्क-वितर्कों से आबाद कभी।

मैं वही पढ़ा जो मुझे पढ़ाया जीवन ने,
हूँ सीख सका वह गया सिखा जो समय-काल,
मैने बस मानवता को पूजा जीवन में,
बस सदा आदमी के आगे यह झुका भाल।

क्या सत्य असत्य, नहीं मैंने कुछ भी सोचा,
उर-शाँति मिली जिसको पा, उसको सत्य कहा,
जो आकर जीवन में आँसू सा चला गया,
मेरी ममता ने केवल उसे असत्य कहा।

फिर और दूसरा भी मेरा यह अनुभव है,
जो सत्य, वही जीवन में थिर रह पाता है,
जो मिथ्या है, भ्रम है, असत्य है, क्षणभर में,
हलचल सा आता है, जल सा वह जाता है।

चाहे वह मिट्टी, सोना हो, आँसू, मोती,
चाहे वह प्रीति, घृणा हो, चाहे सच, सपना
है सत्य वही केवल इस जग में, जीवन में,
आखिरी साँस तक साथ निभाये जो अपना।

जीवन को मैंने देखा था चौराहे से
धरती पर पाँव टिका जग में मैंने झाँका,
मैंने मानव पहचाना उसकी आँखों से
पर-हित से ही निज-हित का मूल्य सदा आँका।

प्राणों के भीतर झाँक, प्यार की दो बातें
जो कोई भी कह गया, हो गया मैं उसका,
उस पर कर दिया निछावर अपना गीत-कोष
हो सका विश्व में कभी नहीं कोई जिसका।

दीपक सा जला निरन्तर अपने जीवन भर
जलकर धुलकर जग का अँधियारा दूर किया,
अंगारों पर बैठा मुस्काता रहा सदा
सब दर्द-दाह भीतर ही भीतर चूर किया।

पग पग पर मजबूरी ज़ंजीर पिन्हाती थी
पर कभी मुसीबत के आगे सिर झुका नहीं,
सौ बार पहाड़ पंथ पर आकर खड़े हुए
बढ़कर तूफ़ानी पग पर मेरा रुका नहीं।

आँधियाँ घिरीं, घन मँडराये, ओले बरसे,
काँटों ने दामन थाम मुझे पथ पर रोका,
अवरोध किया चट्टानों ने मेरी गति का
सौ बार गरजकर सागर ने मुझको टोका।

तूफ़ानों ने दिग्भ्रांत मुझे करना चाहा,
कलियों ने मुस्काकर पथ पर जादू डाला,
धरती ने जो भरकर उगले अंगार क्रुद्ध
अम्बर ने जी भरकर बरसाया अँधियाला।

जीवन का अंचल किन्तु नहीं छोड़ा कर से
खुद पर अजेय विश्वास लिये मैं बढ़ा चला,
सौ बार विफलता की आँधी से टकराया
पर कभी पराजित अश्रु न आँखों से निकला।

हाँ, एक जगह मैं भी हारा हूँ जीवन में
जिस जगह हारती आयी है दुनियाँ सारी,
जिस जगह सदा से शक्ति विवश है मानव की
जिस जगह हारने की ही है बस लाचारी।

भीगी आँखों को देख नहीं मैं हँस पाया,
ठुकरा न सका मैं प्यार भरा नयनामंत्रण,
विश्वास किसी का कभी न मुझसे छला गया,
तोड़ा न गया मुझसे जीवन का आकर्षण।

जब जहाँ मिला सौन्दर्य वहाँ क़ुरबान हुआ
जिस जगह प्यार पाया, उस जाँ मठ बना दिया,
जो पंथ मिला गीला पथिकों के श्रम-जल से
उस पथ की मिट्टी को मस्तक पर लगा लिया।

पथ पर कितने ही मिले मुझे संगी-साथी
कुछ मुझमें हलचल क्रान्ति मचाकर चले गये,
कुछ ऐसे भी आये जो कुछ देकर अपना
मेरा संचित सर्वस्व चुराकर चले गये।

कुछ ऐसे मीत मिले जो क्षणभर साथ रहे,
दो एक दिवस कुछ पथ करते आबाद रहे,
कुछ ऐसे जिनकी कभी कभी सुधि आती है,
कुछ ऐसे जो अब तक हैं मुझको याद रहे।

जितने भी पथ पर मिले मुझे संगी-साथी
जब तक प्रकाश था साथ रहे मेरे मग में,
पर उस दिन ही छाया से वे छिप गये कहीं
जिस दिन सपने ढल गये अश्रु बनकर दृग में।

दो चार दिवस पहले यह इच्छा होती थी
फिर हो कोई मेरे सूने पथ का साथी,
फिर से कोई आये एकाकी जीवन में
पढ़ सके नयन की जो मेरी गीली पाती।

पर आज किसी की छाया भी तो आस-पास
मुझको न तनिक भाती है और सुहाती है,
जग क्या मुझको अब अपनी परछाई तक भी
जीवन-यात्रा में दुश्मन सी दिखलाती है।

तुम इसे कहोगे केवल मेरा विजित अहं
पर जीने का अनुभव यह मुझे बताता है,
जीवन मे आता एक समय ऐसा भी जब
अपने रोंयें तक पर विश्वास न आता है।

अब मन होता है यह कि मरूँ मैं वहाँ जहाँ
कोई न लाश पर मेरी रोनेवाला हो,
हो शव को मेरे कफ़न नसीब न जहाँ, और--
कोई न चिता में आग लगानेवाला हो।

मेरा वश चलता तो मैं विधि से यह कहता
मेरी साँसों की प्राण-श्वास ऐसे निकले,
सम्मुख लहराता हो मधु का सागर गहरा
तट पर कुछ दूर प्यास से प्राण विकल मचले।

निर्माण हुआ हो संघर्षों से ही जिसका,
तूफ़ानों में ही जो नित जागा-सोया हो,
जिसने गाते गाते पीड़ा को पाला हो,
हँसते हँसते जिसने मन का धन खोया हो,

यदि शेष न उसके ही पथ पर आफ़तें रहें
तो शायद फिर उसका चलना भी मुश्किल है,
मरने में भी आनन्द न उसको आयेगा
जब तक उसके अधरों पर आँसू का जल है।

अपने ही पैरों चल यदि मरघट पहुँच सके
इससे बढ़कर वरदान मनुज को क्या होगा,
हँसते हँसते आलिंगन मृत्यु करे यदि जग
इससे बढ़कर सम्मान मनुज का क्या होगा।

मैं समझ नहीं पाया हूँ अब तक यह रहस्य
मरने से क्यों सारी दुनियाँ घबराती है,
क्यों मरघट का सूनापन चीखा करता है,
जब मिट्टी मिट्टी से निज व्याह रचाती है।

फिर मिट्टी तो मिटती भी नहीं कभी भाई !
वह सिर्फ शक्ल की चोली बदला करती है,
संगीत बदलता नहीं किसी भी सरगम का
केवल गायक की बोली बदला करती है।

पर कहता है अस्तित्व जिसे संसार सकल
उसकी सत्ता तो सचमुच एक भुलावा है,
कर्त्ता को नहीं, जन्म कृति का ही होता है
केवल कृतित्व जग जीवन का पहनावा है।

लेकिन है समय अखंड, खंड प्रत्येक कर्म
इसलिए उम्र कम-ज़्यादा सबकी होती है,
कहते तुम जिसे अमरता वह भी मरती है,
हाँ यह सच, वह कुछ ज़्यादा लाशें ढोती है।

झरने के बाद हरेक फूल बन-बगिया का
हो गंधरूप रहता कुछ देर बयारों में,
बस इसी तरह मृत्यु के बाद प्रत्येक व्यक्ति
रहता है कुछ क्षण जग के कार्य-विचारों में।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कभी दोस्त !
केवल तुम अपने लिए जियो, जग को भूलो,
तुम जलो जहाँ हो जाय प्रकाशित वहाँ धरा,
मधुमय हो सारा विश्व कभी यदि तुम फूलो।

हम-तुम पर, जग पर, जीवन पर, हर मानव पर
जग क्या ? जग की मिट्टी तक का भारी ऋण है,
है लेना हमको उचित तभी तक जग-मग से
जब तक बदले में देने को कुछ कंचन है।

सूरज से प्राण, धरा से पाया है शरीर,
ऋण लिया वायु से है हमने इन साँसों का,
सागर ने दान दिया है आँसू का प्रवाह,
नभ ने सूनापन विकल विधुर उच्छ्वासों का।

जो जिसका है उसको उसका धन लौटाकर
मृत्यु के बहाने हम ऋण यही चुकाते हैं,
इसको ही कोई कहता है अभिशाप-ताप
वरदान समझ कुछ इस पर खुशी मनाते हैं।

जो हँसने की है बात न यूँ उस पर रोओ
गीला मत करो आँसुओं से अपना अंचल,
है पंथ पुकार रहा, जल्दी दो विदा मुझे
बाँध लो गाँठ में मानस की सारी हलचल।

किसके रोने से कौन रुका है कभी यहाँ
जाने को ही सब आये हैं सब जायेंगे,
चलने की तैयारी ही तो बस जीवन है
कुछ सुबह गये, कुछ डेरा शाम उठायेंगे।

संध्या को जब सूरज ढलता है पश्चिम में
तब कितने फूल बाग़ में मुरझा जाते हैं,
जब सुबह सिसककर चाँद कहीं सो जाता है
तब कितने आँसू धरती पर उग आते हैं?

पर ठहरा सूरज कभी ? कभी क्या चाँद रुका ?
क्या थमा समय कोई घर-द्वार बसाने को ?
आने से पहले कौन गया है नहीं यहाँ
जाने से पहले आया कौन बुलाने को।

आता है एक रोज़ मधुवन में जब वसन्त
तृण तृण हँस उठता कली कली खिल जाती है,
कोयल के स्वर में भर जाती है नयी कूक
कोंपल पेड़ों पर पायल नयी बजाती है।

पर जब तक बने सुहागिल जग की सुन्दरता
सिन्दूर चुराकर सब वसन्त चल देता है,
लुट जाता है जीवन-बगिया का सब सिंगार
वैधव्य समान विषाद करवटें लेता है।

मिट्टी में लेटी कली कली तब कहती है
इस तरह लूटना था तो क्यों यह रूप दिया ?
कोयल चिल्लाती-जब कि रुलाना ही था फिर—
क्यों मेरे सोये स्वर को गीत अनूप दिया ?

धरती की राजकुमारी फूट बिलखती है,
'कुछ देर अभी तो और पास प्रियतम ! ठहरो,
है पूरी तरह खिला भी नहीं अभी यौवन,
कुछ देर अभी तो और कपोलों पर लहरो।'

पर अट्टहास कर ऋतुपति उत्तर देता है
मैं नहीं ठहरने को—जाने को आया था,
तुझको तेरी असली तस्वीर दिखानी थी
इसलिए तुझे यह नकली रूप उढ़ाया था।

इस तरह चला जाता है प्रिय ! हर एक यहाँ
सिर धुनती पछताती दुनियाँ रह जाती है,
रोकने-टोकने की कोशिशें बहुत होतीं
एक भी मगर कोशिश न अरे चल पाती है।

गति से प्रेरित, गतिशील यहाँ प्रतिक्षण, प्रतिकण
यह अचला भी चल है, नभ घूम रहा सारा,
ये सूरज, चाँद, सितारे अहरह दौड़ रहे,
कर रहा अँधेरे की परिक्रमा उजियारा।

अस्तित्व मिटा देने को अपना सागर में
वह नदी फोड़ चट्टान दौड़ती जाती है,
धरती पर गिरकर खुद मिट्टी बन जाने को
वह बदली नभ में कितना शोर मचाती है ?

झर जाने की ही अविरत व्याकुलता में तो
हर फूल रोज़ वन की डाली पर खिलता है,
बुझ जाने की ही इच्छा-आकांक्षा में बस
हर दीप अँधेरे के आँगन में जलता है।

मंज़िल पर जाकर सिर्फ ठहरने को ही तो
राहों पर है गतिवान साँस का यह राही,
पथ पर कुछ देर ठहरने के ही लिए कहीं
जीवन को मिली जवानी की लापरवाही।

जब जाना है अनिवार्य, हँसे फिर क्यों न आज,
क्यों गायें अंतिम गीत न मुग्ध जवानी का,
युग युग से अपने बिछुड़े हृदय मिलाकर हम
क्यों देखें मिलन न अपनी विरह-कहानी का।

मुस्काने से हर मुश्किल हल हो जाती है,
हँसने से दुख ही बढ़कर सुख बन जाता है,
पतझर में भी क्षणभर गा उठती है कोयल
आँसू भी गीतों को आवाज़ लगाता है।

इसलिए उठो नख से शिख तक शृंगार करो
नयनों की काजल-रेख न गीली होने दो,
मुस्कानों का चमकीला कफ़न उढ़ा मुझ पर
मुझको सुख से अपनी शैया पर सोने दो।

गाओ फिर गीत वही जो उस दिन संध्या को
इमली की छाया में हम-तुमने गाया था,
फिर उसी सितारे की कुछ बातें और करो
हमने जिसको अपना राज़दाँ बनाया था।

गोरे मस्तक पर लगा चन्द्रमा का टीका
फिर वही पूर्णिमा बनकर तुम आओ साथी !
थी रची तुम्हारे हाथों में जिसने मेंहदी
भेजी थी जिसने तुम्हें चाँदनी की पाती ।

तन के सँग मेरा मन भी जिस दिन भींगा था
वह होली का दिन फिर से ज़रा बुला लाओ,
जीवन भर की बाज़ी हम जिस दिन हारे थे
वह दीवाली का खेल ज़रा फिर दुहराओ !

हाँ ! छुई-मुई-सा वह रूठना तुम्हारा प्रिय !
बुझती आँखें हैं अभी देखने की प्यासी,
नाराज़ी—जिसको गीत मनाया करते थे
बह रही आज क्यों आँसू बनकर विधुरा सी ?

मेरा सीना तर करो न अपने आँसू से
तन भीगा तो मन भी भारी हो जायेगा,
यदि इसी तरह तुम रहे सिसकते सिरहाने
तो शायद मुझको भी यह सिन्धु डुबायेगा ।

प्रिय ! मानो मेरी बात, इधर सम्मुख आओ
लाओ यह हाथ, ज़रा इसको सहलाने दो,
ये बाल उधर मत करो, घुमाओ इधर शीश
निर्जीव उँगलियाँ इनमें ज़रा फिराने दो ।

वह देखो परदा उठा, खटकता है किवाड़
दरवाज़े पर कोई आवाज़ दे रहा है,
यह देखो हिचकी आयी, पथरायी पुतली,
यह कोई कंठ दबाकर प्राण ले रहा है।

है काँप रही दीपक की लौ, तम हँसता है,
कमरे की दीवारें चलती-चिल्लाती हैं,
यह बेड़ी सी कोई मुझको पहनाता है,
यह छाया सी कुछ पास खिसकती आती है।

लो चला, सँभालो तुम सब अपना साज-बाज,
दुनियावालों से प्यार हमारा कह देना,
भूले से कभी अगर मेरी सुधि आ जाये
तो पड़ा धूल में कोई फूल उठा लेना!

जो अब तक इतनी देर कही मैंने तुमसे
वह बात ज़िन्दगी की थी, मृत्यु बहाना थी,
मिट्टी मानव की एक कहानी थी जिसमें
छब्बीस सफ़ों की पुस्तक एक सुनाना थी।

जीवन-गीत

"शेष तुम जीवन पथ पर कौन
किसी के जड़ पद चिन्ह समान ?
समय की सिकता पर मिट रहे
शक्ति से उदासीन अनजान।

कौन सा टूटा वह सुख स्वप्न
कि जिसकी सुधि बन अश्रुप्रवाह
प्रगति के भी प्रभात में आज
तुम्हारी रोके बैठी राह ?

कौन सी मुरझाई वह आस
शून्य पृष्ठों पर जो सोच्छ्वास
निराशा की बनकर लेखनी
लिख रही जन्म-मरण-इतिहास

लक्ष्य वह कौन, दूर जो फेंक
तुम्हारे कर्त्तव्यों का भार
डाल पग में विराग का फन्द
तुम्हें ले आया है इस पार ?"

कूक सी कोकिल की कल मन्द
सुनी जब मानव ने वह तान
हृदय में गूँज उठा संगीत
चेतना बिखर बन गई गान।

कुतूहल-अंजन आँज विमुग्ध
दृष्टि विस्फारित कर पल एक
देखता ही मानव रह गया
बना आकर्षण प्रणय-विवेक।

नील अंचल परिवेष्टित अरुण
शुभ्र पारद-सा ज्योतित गात
श्याम झिलमिल-घन घूँघट डाल
आ रही हो ज्यों उषा प्रभात।

एक लेकर शीतल निश्वास
कहा मानव ने "हे छविमान !
कौन हूँ, क्या बतलाऊँ तुम्हें,
स्वयं से हूँ मैं चिर अनजान।

नहीं बसती मानवता जहाँ
उसी जग का हूँ मैं उपहास,
विजन जीवन-वन का वह प्रान्त
जहाँ आता न कभी मधुमास।

प्रणय-डाली से असमय छूट
कँटीले काँटों में निरुपाय,
रह गया हो बिंधकर जो शूल
उसी जीवन-सा हूँ असहाय।

तृषा की सीमा कर अनुमान
मुक्ति-हित तजकर जो मधु, नीर,
पी गई हो विष विवश अलुब्ध
उसी तृष्णा-सा विकल अधीर।

नहीं देखा मैंने सुख-प्रात
संग बस खेली दुख की रात,
परस मेरे अभिशापी होठ
गरल बन गया सुधा का पात्र।

हाथ लगते ही मेरा हाय
फूल भी बन जाता है शूल,
भाल ठुकराती मेरा, तुच्छ
विश्व के पथ, पाँवों की धूल।

हृदय देकर भी जग को दान
घृणा का मिला मुझे उपहार,
समर्पण की माला में अश्रु—
पिरोते ही बन गया अँगार।

नहीं भर पाता जब तक एक
दूसरा होता मन में घाव
डूबती आकर कूल समीप
सदा मेरी आशा की नाव।

नहीं कोई भी, जिसके नेत्र
हुए हों मेरे लिये उदास,
धरा मारती व्यंग्य के बाण
और नभ करता है उपहास।

चल रहा हूँ पर सचमुच आज
न चलने की कोई अभिलाष,
जी रहा हूँ पर मन में शेष
न जीवन की अकुलाती प्यास।

और बस जाता हूँ चुपचाप
लिये जाते हैं पग जिस ओर,
याद है सपने-सा आरम्भ
नहीं पर ज्ञात पंथ का छोर।

किसी की सुधि-समाधि पर मौन
जल रहा हूँ मैं दीपक-प्राण,
जन्म देती है जिसको रात
प्रात बन जाता है अवसान।

शुभे ! मेरे जीवन की ज्योति
फेंकती इतना ही आलोक,
किन्तु बतलाओ अब ! तुम मुझे
कौन हो शुभ सौन्दर्य-अशोक ?"

अधर से झरकर मधु-स्मिति-सिक्त
रक्त कर गोल कपोल कगार,
कहा आगन्तुक ने यों सौम्य-
चिबुक पर धर उँगली का भार।

"रूप से रंजित जिसके नित्य
सृष्टि के सब जड़-चेतन चित्र
उसी सौन्दर्य-सिन्धु की नारि—
मूर्ति सुषमा मै पूत-पवित्र।

निशा यह मेरी वेणी कृष्ण
चन्द्र आनन, आकाश दुकूल,
चाँदनी मेरी छवि की ज्योति
नखत वेणी के झिलमिल फूल।

पगों की लाली पुण्य प्रभात
उषा अधरों की मृदु मुस्कान,
सूर्य मेरा अरुणिम सिन्दूर
नाद-अनहद मेरा गति-गान।

हेम-हिम-आच्छादित गिरि-शृंग
धवल ज्योतिर्मय मेरा भाल,
मेखला रत्नाकर निस्सीम
क्षितिज-सीमा नीलम गल-माल।

ग्रीष्म मेरी चिर उष्ण उसास
हास मेरा मधुमास-विलास,
नयन-नीरांजलि पावस-धार,
पीत पतझर मेरा उच्छ्वास।

नयन-उन्मीलन मेरा सृजन
नयन-मीलन विनाश-संहार,
प्रलय मेरा भ्रू-बंक कटाक्ष
प्रणय-क्रीड़ास्थल सब संसार।

घृणा ही मेरी विष की रेख
प्यार ही मेरा मधु-रत्नार,
विरह ही मेरा जीवन-नर्क
मिलन ही मेरा स्वर्ग-विहार।

नयन की मैं ही तो वह चोट
कि खाकर जिसका पहला वार,
चाहता फिर फिर बनना मुग्ध
स्वयं ही उसका विश्व शिकार।

विश्व के मानचित्र के बीच
खिंची मैं ही वह रेखा एक,
चाहता है बंधन की छाँह
जहाँ पर आकर मुक्ति-विवेक।

सृष्टि-सौन्दर्य-वर्य की पूर्ण
कला मैं ही रूपित कमनीय,
पुरुष की प्रणय-कहानी बीच
विरह की मैं ही दशा तुरीय।

सृष्टि के आदिकाल से भूमि
घूमती है जिस पर दिन-रात,
धुरी मैं ही उसकी अनुलध्य
ज्ञात होकर भी जो अज्ञात।

भींगती पावस-निशि को देख
पपीहे में उठती जो प्यास,
तृप्ति मैं ही तो उसकी पूर्ण
उठाती मै ही वह उच्छ्वास।

धरा का सूना आँगन मौन
मुखर करती मैं ही बन गीत,
जगत के जलते मरुथल बीच
बाँधती मैं ही जल की भीत।

मरण को भी आई जो जीत
सृष्टि की मैं ही तो वह शक्ति,
नचाया जिसने सँग लोकेश
धरा की मैं ही तो वह भक्ति।

जिसे कहता है जग साहित्य
सत्य मेरा ही वह शब्दांग,
कलाओं को जो मिला सुरूप
रूप मेरा ही वह अमृतांग।

साँझ के प्रथम नखत से टूट
उतरती सुधि जो मन के पास,
चपल चितवन से उसको चूम
बनाती मैं ही ऊषा-हास।

अखिल यह सृष्टि समष्टि असीम
अहर्निशि झंकृत एक सितार,
मधुर तुम जिसके स्वर-संगीत
और मैं जिसकी लय-झंकार।

दीप तुम, बाती मैं सस्नेह,
प्रश्न तुम, उत्तर मैं साकार,
झुलसते तुम धरती के प्राण
ओर मैं पावस की जलधार।

कूल तुम, मैं लघु लहरी लोल,
चतुर माँझी तुम, मैं पतवार,
कर्म-समरांगण के तुम वीर
और मैं जौहर की ललकार।

साध्य तुम, मैं साधना पुनीत,
ध्येय तुम, मैं धारणा समान,
व्योम के तुम असीम विस्तार,
विहग की मैं उत्तुंग उड़ान।

आरती मैं, तुम पूजित देव,
प्रार्थना नत मैं, तुम वरदान,
चरण मैं चूम रही पथ-धूलि
और तुम चिर उन्नत अभिमान।

घुमड़ते घन तुम भीम प्रचंड,
चातकी की मैं तृषित पुकार,
फूल तुम, गन्ध मदिर मैं मन्द,
काव्य तुम, मैं कल्पना-अपार।

भाव तुम, मैं अनुभूति अतोल,
पलक तुम, पुतली मैं जल-स्नात,
हृदय तुम, धड़कन मैं स्वच्छन्द,
विरह तुम, मैं आँसू अवदात।

गिर रहे गिरि से तुम जल-उत्स
और मैं भुज-कूलों की अंक,
चपल तुम बाल-चकोर प्रयत्न
और मैं शशि की छवि अकलंक।

चाँद तुम, मैं चाँदनी अमन्द,
सघन तुम तरु, मैं शीतल छाँह,
मधुर तुम आलिंगन-अभिसार
और मैं लिपट गई गल-बाँह।

मिलन-निशि के तुम रति-रत प्रहर,
सेज मैं सकुची थकी मलीन,
कृष्ण की बंसरि बन तुम बजे,
छुटी मैं कर से मटकी क्षीण।

चित्र तुम, मैं रंगों की भीर,
पाठ तुम, पुस्तक मैं अभिराम,
राम तुम, सीता मैं सत्मूर्ति,
राधिका मैं, तुम छलिया श्याम।

पथिक ! पर मेरा यह सब रूप
व्यर्थ है, अर्थहीन-अपदर्थ
युगों से खोज रहा उद्भ्रान्त
पुरुष का चिर अजेय पुरुषार्थ !

वही पुरुषार्थ अमर भी जिसे
प्राप्त करने को, तज निज लोक,
किया करते धारण नर-देह
झेलकर भौतिक सुख-दुख शोक।

और तुम आज वही निज रूप
भुला बैठे हो यूं हतज्ञान,
दब रहे हो अतीत के साथ
छोड़ निज वर्तमान का ध्यान।

उठो जीवन के कर्मठ वीर
फूँक दो ऐसा जीवन-शंख
उठे अँगड़ाई लेकर त्रस्त
ध्वस्त मृत मानवता विश्रंख।

सदा तुम हो समर्थ सब भाँति
प्रकृति के तेज पुँज वह पूर्ण
कि जिससे हीन प्रकृति-कृति व्यर्थ
और सब सृष्टि समष्टि अपूर्ण।

नहीं तुम ही होते यदि देव!
न होता यह सब सृष्टि-प्रसार
न पड़ती जग में जीवन-बेलि
न होता दिवा-निशा अभिसार।

तुम्हारी ऊँचाई को देख
स्वयं पर लज्जित नीलाकाश,
तुम्हारी गम्भीरता विलोक
ले रहा सागर फेनोच्छ्वास।

तुम्हारी मुट्ठी में भूकम्प
तुम्हारे इंगित में तूफान,
तुम्हारे कंपन में विस्फोट
ठोकरों में असंख्य वरदान!

तुम्हारे आलिंगन में मुक्ति
अमृत की अधरों में मुस्कान,
आस्थियों में शत वज्र अजेय
नयन-कोरों में निशा-विहान।

तुम्हारा ही वह मानस-सिन्धु
कि जिसमें बुद्‌बुद् सा दिन-रात,
बन रहा और मिट रहा विश्व
स्वयं की सीमा से अज्ञात।

तुम्हारा ही तो है वह श्वास
लिए जिसको गतिवान समीर
जिसे धारण कर अचला अचल
तुम्हारा ही वह शौर्य्य-शरीर।

तुम्हारा ही तो वह मृदु-हास
कि जिससे हँसता अरुण प्रभात
तुम्हारा ही तो वह मुख म्लान
कि जिसको देख उदासी रात!

स्वर्ग है जिसका छायारूप
तुम्हारा ही है वह सुख-स्वप्न
नर्क है जग में जिसका नाम
तुम्हारा ही वह स्वार्थ कृतघ्न

तुम्हारी तन जाती जब भौंह
खोलने लगते सिन्धु अधीर
डोलता इन्द्रासन भयभीत
स्वर्ग बरसाने लगता नीर

बिन्दु में बंद तुम्हारे सिन्धु
कंठ में झंझावात असंख्य
प्राण में ज्वालामुखी अचेत
स्वरों में विजय-घोष-शत-शंख।

तुम्हारा चढ़ता आँसू-अर्घ्य
समर्पण का लेकर जब भार
टूटती शिव की अटल समाधि
शून्य तक हो जाता साकार।

प्रकृति के सब जड़ चेतन तत्त्व
तुम्हारे पदतल में नत-शीश,
दास से सेवा में रत-निरत
चाहते नयनों का आशीष।

कृष्ण केशोंवाली वह रात
तुम्हारे पथ पर नित साह्लाद,
जला जाती तारों के दीप
सला जाती दिन का अवसाद।

चमक कर चाँद गगन में नित्य
तुम्हारी कुसुमित सेज सँभाल,
चाँदनी की शुभ चादर श्वेत
तुम्हारे तन पर देता डाल।

लजीली अरुण ऊषा सुकुमारि
सजा फूलों से आरति-थाल,
जगा जाती तुमको नित प्रात
चूमकर देव तुम्हारा भाल।

मंद मृदु मंथर मलय-वतास
तुम्हारा अंचल चल झकझोर
तुम्हारे जीवन का अनुताप
स्निग्ध मधुता में देता बोर।

बरसकर रिमझिम पावस मेघ
तुम्हारे धोता चरण पुनीत
गरजकर अम्बुधि अभ्र विशाल
तुम्हारी जय के गाता गीत।

तुम्हारे अधरों का कर स्पर्श
गरल भी बन जाता मधु-पेय,
तुम्हारे उर का पाकर स्नेह
हेय भी जग का होता प्रेय।

सृष्टि का सतरंगी सौन्दर्य
बना जो ब्रह्मरूप शिव-सत्य
हो सका है सुन्दर छविमान
तुम्हारा ही छूकर मनुजत्व।

देख नश्वर अमरत्व त्वदीय
तरसता अमरों का अमरत्व
काँपता देवों का देवत्व
पूर्ण जब होता तव पुरुषत्व।

तुम्हारा जीवन नहीं विलास
मरण में हो जाये जो व्याप्त
वरन् वह ध्येय तुम्हारा एक
विजय जो करे मृत्यु पर प्राप्त।

मरण के ही चरणों में देव
नहीं मानव-जीवन का अन्त
मरण चिर नश्वर सीमित तत्व
और जीवन चिर अजर अनन्त।

न जीवन बालू की दीवार
मेंह-पानी में जो ढल जाय,
न कागज का ही वह घर जो कि
क्षुद्र चिनगारी से जल जाय।

न जीवन वह तिनकों का नीड़
समय की काल-पवन के साथ
बिखरकर क्षण भर में उड़ जाय
छोड़ आशा-डाली के पात।

किन्तु जीवन वह अडिग हिमाद्रि
वक्ष: पर कर जिसके आघात
शिलायें टूक-टूक हो जायं
पलट जाये गति-झंझावत।

न आशा ही जीवन की आस
निराशा ही न अन्त-परिणाम
न मधु ही केवल इसका स्वाद,
हलाहल ही न पेय अविराम।

नहीं सुख ही जीवन का लक्ष्य
नहीं दुख ही बस ध्येय विकास
सन्धि-रेखा दोनों की बैठ
लिखे जीवन अपना इतिहास।

घृणित जो कुछ भी जग के बीच
और जो कुछ भी है अग्राह्य
सफल यह जीवन एक प्रयास
बनाने को उसको बस ग्राह्य।

असीमित इस जगती के बीच
जहाँ भी मानव कहीं अपूर्ण
स्वर्ण अवसर यह जीवन एक
उसे करने को केवल पूर्ण !

त्याज्य जो कुछ भी जग के बीच
उसे अपनाने का बस यत्न
यही तो मानव का कर्त्तव्य
यही मानवता का सुख-स्वप्न !

असुन्दर जो कुछ जग के बीच
खोजना उसमें सुख-सौन्दर्य
यही जीवन का शाश्वत ज्ञान
ज्ञान का यही परम आश्चर्य ।"

"किन्तु मधुरे ! यह ज्ञानादर्श
एक है वह चिर विफल प्रयास
लक्ष्य है जिसका मन बहलाव
और परिणाम अतृप्ति-विलास ।

स्वयं से ही जीवन भर सिर्फ
स्वयं को छलने का यह खेल
आदि है जिसका झूठा दंभ
अन्त नैराश्य-निशा का मेल ।

खोजने से मिल सकता कहीं
असुन्दर में यदि सुख-सौन्दर्य
असत् सत् पाप पुण्य का तो न
विश्व में होता पर्य-विपर्य !

गरल में भी मिल सकता देवि
सुधा का यदि मधु मादक स्वाद
न करता जग में हाहाकार
विश्व-व्यापी विष का अवसाद

तिमिर में यदि मिल सकता कहीं
ज्योति का ज्योतित स्वर्ग-विहान
न फिर यूँ दीप-शिखा पर व्यर्थ
शलभ करता निज को बलिदान।

और पतझर कर सकता अगर
मदिर मधुऋतु का साज-सिंगार
बैठ सूखी डाली पर कभी
न करती कोयल हाहाकार।"

"नहीं है सचमुच जग में देव !
अशिव कुछ और असुन्दर तत्व
तुम्हारे नयनों में ही किन्तु
शेष है भ्रम-अंजन-अस्तित्व !

असुन्दर जिसको कहता विश्व
नहीं वह सचमुच घृणित कुरूप
असुन्दर भाव तुम्हारा किन्तु
भाव्य ही जिसका वह प्रतिरूप।

प्रकृति है प्रतिध्वनि केवल मौन
तुम्हारी ही ध्वनि की साकार
चतुर्दिशि है लक्षित इस हेतु
चपल मन का ही मौन विकार।

असुन्दर-सुन्दर का जग बीच
न कोई एक नियत सिद्धान्त
ब्रह्म का, वाणी का है ज्यों न
यहाँ पर एक स्वरूप नितान्त।

भिन्न रुचि, भिन्न देश औ' काल
विनिर्मित जग का वस्तु-स्वरूप
असुन्दर भी सुन्दर है कहीं
और सुन्दर भी कहीं कुरूप।

चन्द्र से झरती जो मृदु ज्योति
दीप में भी वह कान्ति-प्रशान्त
मगर दीपक के लिये चकोर
कभी होता न अधीर अशान्त।

और तज दीपक का सम्मोह
न शशि को छूने गया पतंग
न घन को छोड़ किसी से और
माँगता जल ज्यों 'पिऊ' विहंग।

जिसे होवे जिसमें अनुरक्ति
वही बस सत् शिव-ब्रह्म सकाम
जिसे मिल सके जहाँ सुख-शान्ति
वही है स्वर्ग नवोनिधि-धाम।

जिसे तुम कहते हो सुख-स्वर्ग
लोक का ही वह छाया-रूप,
जहाँ भी है जो ज्योति-प्रकाश
जगत-जीवन की ही वह धूप।

बहुल रंगों से रंजित विश्व
यही केवल सुख का आगार
नहीं है इससे परे अचिन्त्य
स्वर्ग की सीमा का विस्तार।

जिसे इस जग में ही मिल सका न
सुख का हीरक-मौक्तिक प्रवाल,
न फिर दे सकता है प्रिय! उसे
शान्ति कोई माई का लाल।

तुम्हारे सम्मुख ही सौन्दर्य
तुम्हारे सम्मुख ही वरदान
तुम्हारा ही पर परस-प्रयत्न
सदा कर देता उसको म्लान।

सत्य ही है प्रिय ! जग के बीच
व्याप्त बस केवल सत्-शिव एक
देखने को पर उसके देव
विश्व में लोचन-दृष्टि अनेक।

सत्य ही धारण करता नित्य
अनेकों भिन्न-भिन्न आकार
उसे ही अविवेकी हतज्ञान
बताते असत-विकार-प्रकार।

विनिर्मित ज्यों माटी से भिन्न
खिलौनों के विभिन्न आकार
बनाता औ' बिगाड़ता नित्य
गाँव का कुम्भकार-घटकार।

खिलौनों का वह बहुविध रूप
सर्वथा नश्वर और असार
किन्तु जो उसका जीवन-तत्व
मृत्तिका अकल और अविकार।

सत्य के मूल्यांकन-हित सिर्फ
असत की सत्ता है भ्रमजाय
अर्थ में और भेद में किन्तु
शब्द दोनों ही हैं पर्याय।

कहीं जो बँध न सकी क्षण एक
मुक्ति भी मुक्ति नहीं वह पूर्ण
तिमिर में बुझ न सकी जो कभी
ज्योति वह जीवन-ज्योति अपूर्ण।

न जिसकी डाली पर श्रीहीन
किया हो पतझर ने उच्छ्वास
न वह द्रुम जान सकेगा कभी
मदिर कितना मधुमय मधुमास।

न यदि नभ रोया करता रात
सुना तारों का अश्रुल गान
देख पाता न कभी वह प्रात
ऊषा की स्वर्णिम मृदु मुस्कान।

दीप पर करता यदि न पतंग
स्वयं को बलि हँसकर सौ बार
छोड़ फिर जग-जीवन का मोह
मनाता कौन मरण-त्यौहार।

तिमिर की ही चादर में नित्य
निकलता यदि न ऊषा का गात
पपीहा फिर कैसे तज प्रात
खोजता घन-अँधियारी रात ?

अशिव ही होता यदि प्रिय ! शूल
फूल क्यों खिलता उसके संग
और उसमें बिधकर सौ बार
भ्रमर कैसे पाता आनन्द ?

अशिव ही होता यदि तम-लोक
सकल दिन का श्रम-थकित विषाद
खोजता क्यों निशि सूना मौन
भुलाने को मन का अवसाद ।

सत्य कोलाहल जीवन-रूप
और यदि मौन मरण-प्रतिबिम्ब
खोजता मन फिर क्यों क्षण एक
जहाँ पर स्वर पावे अवलम्ब ?

"किन्तु फिर भी तो हे छविमान !
व्यर्थ यह ज्ञानदर्श-प्रचार
विफल तर्कोपदेश यह कर
न सकेगा हलका उर का भार ।

ज्ञान का यह मधु गंध-विहीन
बुझा सकता न तृषा की ज्वाल
वचन-वर्षण से ही बस नहीं
गुँथेगी सुख की मौक्तिक-माल।

व्यथित मेरे प्रयास से देवि
अगर सुख पावे भी संसार
रुकेगी कैसे मेरे दग्ध—
हृदय की घायल आँसू-धार

सकल संसार शान्ति-सुख पाय
और दुख ही हो मेरा भाग
सात जन्मों तक ऐसे वंद्य
स्वर्ग से भी न मुझे अनुराग।

सृष्टि को सुख देकर भी हाय
रहेगा दुख ही मेरे हेतु
आज क्या इसीलिए फिर विश्व—
उदधि पर बाँधूँ मैं सुख-हेतु

प्रथम मेरी तृष्णा बुझ जाय
अन्य को हो तब मधु का दान
प्रथम हो ज्योतित मेरा सद्म
विश्व में हो तब स्वर्ण विहान।

विश्व-पूजा का पहला फूल
प्रथम मेरे चरणों पर चढ़े,
प्रथम मेरा ही यौवन दौड़
विश्व के प्रणय पन्थ पर बढ़े।

धरा पर जब आये मधुमास
प्रथम मेरा ही हो शृङ्गार,
गगन जब गाये बादल राग
प्रथम मेरे घर गिरे फुहार।"

"प्रथमता का पर यह जड़ लोभ
अन्त का भी पहला परिणाम,
जहाँ पहले उगती है धूप
वहीं होती है पहले शाम।

दूसरों से पहले सुख-भोग
भोगने वाली यही प्रवृत्ति,
सकल संघर्षों का है हेतु
सकल युद्धों की है आवृत्ति।

विषमता का यह युग-वैषम्य
व्यथित-पीड़ित जिससे संसार,
निबल पर बल का यह आतंक
घृणा का यह विषपूर्ण प्रचार।

शक्ति का यह छल, मिथ्या दंभ
वहन कर रहा जिसे विज्ञान,
विश्व-व्यापी यह ध्वंस-सँहार
धरित्री का यह शोणित-स्नान,

चूसकर श्रम का पावन रक्त
हँस रहा जो पशु-पूँजीवाद,
छीन जनता के सिर का ताज
कर रहा जो साम्राज्य विवाद,

भूख यह, यह अकाल, यह काल,
अवर्षा यह, वर्षा घनघोर,
पतन यह, छल यह, ईर्ष्या-द्वेष
कपट का यह व्यवहार कठोर,

सभी इन कटुताओं का मूल
प्रथमता का ही है अज्ञान
यही है वह नृशंस-विध्वंस
कि जिससे व्याकुल विश्व महान

सत्य है यह कि व्यक्ति का स्वार्थ
स्वम् के लिए एक है ध्येय,
मनुजता का है पर जो लक्ष्य
प्रेम वह है समाज का प्रेय।

व्यक्ति को सत्ता यदपि स्वतंत्र
लोकगत उसका किन्तु विकास,
चरण उसका, उसका अधिकार
किन्तु गति है समाज की श्वास।

दीप पीछे है अपने लिये
प्रथम वह है घर का उजियार,
भले ही रहे डाल पर फूल
व्योम तक उसका गंध प्रसार।

व्यक्ति है सीमित पर व्यक्तित्व
असीमित है समाज का अंग,
उदित हो क्यों न गगन पर सूर्य
धरा पर उसका किरण-निषंग।

बाँसुरी तो केवल है बाँस
विश्व मुखरित कर देती तान,
नहीं गायक अपना व्यक्तित्व
तत्व है उसका केवल गान।

और फिर जो अपने ही लिये—
जिया, उसका जीना क्या अर्थ,
मरा भी जो अपने ही हेतु,
मरण उसका मिट्टी-सा व्यर्थ।

अरे पशु को भी तो इस भाँति
नहीं जग में जीना स्वीकार
न जाने कैसे किस-किस तरह
चुका देता वह ऋण-आभार।

जिसे जड़ कहता है संसार
प्रकृति भी वह रहती न अचेत,
स्वयं को कर देती है दान
अकेले और कभी समवेत।

विश्व का फल देने के लिये
तप रही है वह देखो डाल,
धरा की पी जाने को प्यास,
गरजती कैसी वह घनमाल।

गलाता निज की देह हिमाद्रि
गूँथने को नदियों के केश,
तुम्हें देने को तेज-प्रकाश
किये रवि धारण ज्वाला-वेश।

न तम-पथ पर भटके संसार
लिये इस कारण निशि शशि-दीप,
तुम्हें देने को मुक्ता-दान
अतल जल में समाधि-रत सीप।

सृष्टि सुरभित होवे इसलिये
हँस रहा काँटों में वह फूल,
तरिण पाये विराम इस हेतु
तरंगाघात सह रहा कूल।

तुम्हें घर पहुँचाने के हेतु
पड़ी वह कब से सूनी राह,
तुम्हें देने को अपनी आयु
सह रही कब से धरती दाह।

अरे इतने विशाल जग बीच
न कोई दिखता ऐसा एक
जी रहा हो जो अपने हेतु,
स्वयम् हो जो निज लय की टेक।

स्वयम् को एक तत्व में लीन
कर रहे सब जड़ चेतन-चित्र,
और तुम हो कि सभी से दूर
चाहते निज व्यक्तित्व विचित्र।

विन्दु बनने को व्याकुल सिन्धु
सिन्धु बनने को मेघ अधीर,
विकल घन बनने को जल धार
धार चंचल पाने को तीर।

स्वार्थी बन जो सब से प्रथम
चाहते हो तुम निज सुख-भाग,
मुझे लग रहा कि बनकर स्वार्थ
तुम्हें छल रहा दृप्त अनुराग।

दुखी है जब तक सारा विश्व
नहीं तुम भी सकते सुख भोग,
भिन्न भावों का अन्तर-बाह्य
नहीं हो सकता एकी योग।

किन्तु रहकर भी यदि तुम दुखी
कर सके सुखी सकल संसार
तुम्हारे उस दुख का हो मूल्य
अधिक होगा सुख से दो चार।

मनुज-सेवा का व्रत लो देव
स्वयम् की सत्ता का कर ज्ञान
और फिर देखो केवल एक न
पाओगे असंख्य भगवान।

विषमता फैली जो जग बीच
उसे दो युग-समता का रूप
सदा जिससे इस जग के बीच
तुम्हारे यश की फैले धूप।

विश्व भर के रचकर प्रसाद
स्वयं है जो गृह-आश्रयहीन
विश्व भर का भर कर जो पेट
स्वयम् भूखा है नंगा दीन।

पिला मिट्टी को अपना रक्त
रच रहा जो नवीन संसार
स्वेद के बोकर जो जल-बीज
मरुथलों का कर रहा शृंगार।

रक्त-शोषण हो उसका बन्द
मिले श्रम को शासन का श्रेय,
व्यक्ति हो विश्व, विश्व हो व्यक्ति
बने देवत्व प्रगति का ध्येय।"